शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

: संपादक : जगजीवन बालचंद दोशी

नवम्बर : १९६१ ☆ वर्ष सत्रहवाँ, कार्तिक, वीर नि०सं० २४८७ ☆ अंक : ७

परम हर्ष का कारण

'मोक्ष-सिद्धांत' नामक प्रकरण में परम हर्ष व्यक्त करते हुए श्रीमद् राजचंद्र लिखते हैं कि—

'श्रुत अल्प रहने पर भी, मतमतांतर अनेक होने पर भी, समाधान के कुछ साधन परोक्ष होने पर भी महात्मा पुरुषों का क्वचितत्त्व होने पर भी, हे आर्य जनो! सम्यग्दर्शन, श्रुत का रहस्य ऐसा परमपद का पंथ, आत्मानुभव का हेतु सम्यक्चारित्र और विशुद्ध आत्मध्यान आज भी विद्यमान है, यह परम हर्ष का कारण है।'

वार्षिक मूल्य तीन रुपया

[१९८]

एक अंक चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

वैराग्य समाचार

★ ★ ★

राजकोट के अग्रणी शेठ श्री मूलजीभाई चत्रभुज लाखाणी के सुपुत्र श्री भानुभाई ३२ साल की उम्र में राजकोट तारीख २८-९-९१ स्वर्गस्थ हुए हैं, वे तत्त्वज्ञान के अच्छे जिज्ञासु थे और पूज्य गुरुदेव के प्रति अतिशय भक्तिवान थे, बारंबार सोनगढ़ आकर सत्समागम का लाभ लेते थे, अंतिम थोड़े समय से वे आत्मधर्म के संपादक थे।

इस दु:ख प्रसंग में शेठ श्री मूलजीभाई और उनके कुटुंबी स्वजनों के प्रति हार्दिक संवेदना व्यक्त करते हैं और अनित्य वस्तुस्थिति का वैराग्यमय चिंतन द्वारा दु:ख कम हो तथा भानुभाई का सद्गत आत्मा भी सद्धर्म की आराधना करके आत्मकल्याण को साधे, ऐसी हम भावना भाते हैं। संसार का स्वरूप ही ऐसा है जिसमें अनुकूलता और प्रतिकूलता के प्रसंग तो आते ही हैं, उस समय आत्मार्थ न भूलना और वैराग्य भावना दृढ़ करना, ऐसा गुरुजनों का उपदेश है, 'जहाँ निरुपायता है वहाँ सहनशीलता ही सुखदाता मानना' गुरुदेव के वचनानुसार शेठ श्री आदि को उत्तम सहनशीलता प्राप्त हो, ऐसी भावनापूर्वक हम इस प्रसंग पर संवेदना प्रगट करते हैं।

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

: संपादक : जगजीवन बालचंद दोशी

नवम्बर : १९६१ ☆ वर्ष सत्रहवाँ, कार्तिक, वीर नि०सं० २४८७ ☆ अंक : ७

मोक्ष साधना की मीमांसा

मोक्षार्थी को प्रथम तो अपने अंतर में यह बात दृढ़ करना चाहिये कि मेरे मोक्ष का साधन मुझमें ही है; अपने ज्ञान को जितना अंतर्मुख एकाग्र करूँ, उतना ही मेरा मोक्ष का साधन है; इसके अतिरिक्त जितनी बहिर्मुख वृत्ति हो, वह मोक्ष का साधन नहीं है।—ऐसे सम्यक् निर्णय के बल से अंतर्मुख परिणमन होता है।—इसप्रकार भगवती प्रज्ञा ही मोक्ष का साधन है।

भेदज्ञान के सच्चे आकांक्षी जिज्ञासु जीव को अंतर से प्रश्न उठा है; उसे आचार्यदेव भेदज्ञान की रीति समझाते हैं; आत्मा और बंध के बीच सावधानी से गिराई जानेवाली प्रज्ञाछैनी ही आत्मा के मोक्ष का साधन है। अंतर में कोई लक्ष निश्चित करके शिष्य कहता है कि प्रभो! आप बंध और आत्मा को भिन्न करना कहते हैं, वह लक्ष में तो आत्मा है; किंतु वास्तव में उन दोनों को छेदकर (भिन्न-भिन्न करके) बंध से भिन्न आत्मा का साक्षात् अनुभव कैसे होता है ?—अंतर में भेदज्ञान का प्रयत्न करते-करते उसके निकट पहुँचा हुआ शिष्य भेदज्ञान की आतुरता-पूर्वक प्रश्न करता है—अंतर अभिलाषा से पूछता है; और ऐसी तत्परता होने के कारण श्रीगुरु उसे जिसप्रकार समझाते हैं, वह तुरंत समझ जाता है और उसके अंतर में आनन्दमय बोधतरंगें उछलती हैं।

(श्री समयसार गाथा २९४ के प्रवचनों से...)

मोक्ष अधिकार में आचार्यदेव ने मोक्ष के उपाय का वर्णन किया। उसे सुनकर जिज्ञासु शिष्य पूछता है कि—प्रभो! आत्मा और बंध को पृथक् करना ही मोक्ष का कारण है, अन्य कोई मोक्ष का कारण नहीं है—राग या व्यवहार का अवलम्बन मोक्ष का कारण नहीं है—ऐसा आपने समझाया;

वह बात तो हृदय में जम गई है; किंतु अब आत्मा और बंध को पृथक् कैसे करें ?—किस साधन द्वारा उन्हें भिन्न-भिन्न किया जाये ? शिष्य के अंतर में आत्मा और बंध को पृथक् करने की उत्कंठा जागृत हुई है, इसलिये साधन पूछता है कि—हे नाथ ! उन्हें पृथक् करने का साधन मुझे बतलाओ।

तब आचार्यदेव २९४वीं गाथा में साधन बतलाते हैं—

जीवों बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं।
पण्णदेणएण उ छिण्णा णाणात्तमावण्णा ॥२९४॥

[यह गाथा बहुत सुन्दर है.... पूज्य गुरुदेव ने प्रवचन के समय अध्यात्ममस्ती में तल्लीन होकर जब यह गाथा पढ़ी, तब श्रोतागण मानों वैराग्य की मस्ती में डोल उठे थे। अहा ! गुरुदेव के श्रीमुख से आत्मा के मोक्ष का साधन सुनकर श्रोताओं को कितनी प्रसन्नता हो रही थी ! गुरुदेव कहने लगे—]

भगवान ! सुन अपने मोक्ष का साधन ! आत्मा और बंध को पृथक् करनेरूप जो 'कार्य', उसका 'कर्ता' आत्मा; उसके 'साधन' संबंधी गहरी विचारणा (मीमांसा) की जाने पर, 'भगवती प्रज्ञा' ही साधन है क्योंकि निश्चय से देखने पर अपने से भिन्न साधन का अभाव है।

देखो, यह मुमुक्षु की विचारणा ! आचार्यदेव कहते हैं कि भाई, गंभीरतापूर्वक विचार करेगा तो अपने मोक्ष का साधन तुझे अपने में ही दिखाई देगा। आचार्यदेव स्वयं साधन का निर्णय करके शिष्य को भी प्रेरित करते हैं कि—देख भाई ! तेरा साधन तुझसे भिन्न नहीं हो सकता। राग तो तेरे स्वभाव से भिन्न भाव है। ज्ञानस्वरूप बुद्धि अर्थात् अंतरोन्मुख ज्ञान ही तेरा मोक्ष का साधन है; अर्थात् भगवती प्रज्ञा ही तेरा मोक्ष का साधन है। उस प्रज्ञा द्वारा छेदन किये जाने पर आत्मा और बंध अवश्य पृथक् हो जाते हैं।

देखो, इस भगवती प्रज्ञा को साधन कहा, उसमें कहीं राग नहीं आया, कहीं व्यवहार का अवलम्बन नहीं आया, किंतु अपने में स्वभाव का ही अवलम्बन आया। अहा, आचार्यदेव ने आत्मा से अभिन्न भगवती प्रज्ञा को ही मोक्ष का साधन बतलाकर अलौकिक बात समझाई है ! वे अपने स्वानुभवपूर्वक कहते हैं कि ऐसी प्रज्ञाछैनी द्वारा आत्मा और बंध को छेदा जा सकता है—ऐसा हम जानते हैं।

जिसे बंधन से छूटने की भावना है, ऐसा मोक्षार्थ जीव पूछता है कि प्रभो ! मेरे आत्मा से बंधन का छेदन किस प्रकार होगा ? अपने आत्मा को बंधन से छुड़ाने का साधन क्या ?—ऐसा

पूछनेवाला शिष्य यहाँ तक तो आया है कि बंध भाव को छेदने से मुक्ति होगी; किसी राग द्वारा या शरीरादि की क्रिया द्वारा मुक्ति नहीं हो सकती। इसलिये शरीर की क्रिया या रागादि मेरा कार्य नहीं है। मेरा कार्य तो बंध को छेदना है; आत्मा को बंधन से मुक्त करना ही मेरा कार्य है और मेरा आत्मा ही उसका कर्ता है। अब वह उसके साधन का गहरा विचार करता है।

आचार्यदेव कहते हैं कि—हे भव्य! मोक्षरूपी जो तेरा कार्य है, उसके साधन की गहरी मीमांसा करने से, वह साधन तुझमें ही है, तेरे मोक्ष का साधन सचमुच तुझसे पृथक् नहीं है; अपने आत्मा से अभिनन ऐसी भगवती प्रज्ञा ही बंध को छेदने का तेरा साधन है। अहो, एक बार श्रद्धा तो कर कि—मैं ज्ञानस्वरूप हूँ और मेरे मोक्ष का साधन भी ध्यानस्वरूप भगवती प्रज्ञा ही है, उससे भिन्न दूसरा कोई साधना नहीं है। कर्ता आत्मा, और साधन राग-ऐसा हो ही नहीं सकता। राग तो बंधन है, वह स्वयं बंधन से छूटने का साधन कैसे होगा? सम्यग्दर्शन भी मिथ्यात्व के बंधन से छुटकारा है; उसका साधन राग नहीं है किंतु चैतन्यस्वरूप आत्मा की ओर उन्मुख प्रज्ञा ही उसका साधन है, इसलिये वह प्रज्ञा 'भगवती' है।

मोक्ष के उपाय का सच्चा विचार भी जीव ने कभी नहीं किया, मोक्ष का साधन बाह्य में ही ढूँढ़ा है; किंतु मोक्ष प्राप्त करनेवाला जो आत्मा, उससे भिन्न मोक्ष का साधन नहीं हो सकता। मोक्ष का साधन राग से तो भिन्न होता है किंतु ज्ञान से भिन्न नहीं होता।

प्रथम तो मोक्षमार्गी को अपने अंतर में यह बात दृढ़ करना चाहिये कि—मेरे मोक्ष का साधन मुझमें ही है; अपने ज्ञान को जितना अंतर्मुख एकाग्र करूँ, उतना ही मेरा मोक्ष का साधन है; इसके अतिरिक्त जितकी बहिर्मुख वृत्ति होती है, वह मोक्ष का साधन नहीं है।—ऐसे सम्यक् निर्णय के बल से अंतर्मुख परिणमन होता है परंतु जो राग को ही मोक्ष का साधन मानता है, उसका राग से भिन्न परिणमन नहीं होता, वह तो राग के साथ उपयोग को एकमेक करके बंधन को ही प्राप्त होता है। जिसप्रकार आत्मा का मोक्षरूपी कार्य आत्मा से भिन्न नहीं है, उसीप्रकार उसका साधन भी आत्मा से भिन्न नहीं है। वह साधन 'भगवती प्रज्ञा' ही है।

आत्मा में और राग में निकटता है किंतु एकता नहीं है, दोनों के लक्षण भिन्न हैं। भगवती प्रज्ञा और आत्मा में तो एकता है। आत्मा और बंध दोनों के भिन्न-भिन्न लक्षणों को जानकर, भगवती प्रज्ञा उन्हें छेद डालती है; उन दोनों को पृथक् करके वह आत्मा के साथ तो एकता करके उसमें लीन होती है और बंध को अपने से पृथक् ही रखती है। ऐसा भेदज्ञान करनेवाली भगवती प्रज्ञा ही

मोक्ष का साधन है; उस प्रज्ञा के द्वारा ही आत्मा को बंधन से छुड़ाया जा सकता है।

अंतर में भेदज्ञान का प्रयत्न करनेवाला जिज्ञासु शिष्य फिर पूछता है कि प्रभो! आपने आत्मा और बंध को प्रज्ञाछैनी द्वारा पृथक् करने को कहा; किंतु ज्ञान और बंध में चेतक-चैत्यकपने के कारण अत्यन्त निकटता है, (शिष्य 'निकटता' कहता है किंतु 'एकता' नहीं कहता); ऐसी निकटता है कि जैसे दोनों साथ ही हों; जहाँ ज्ञान है, वहीं राग है—इसप्रकार निकटता होने से उन्हें प्रज्ञाछैनी द्वारा 'वास्तव में' किसप्रकार छेदा जा सकता है?—दोनों का भिन्न अनुभव किसप्रकार किया जा सकता है?

देखो, यह भेदज्ञान की उत्कृष्ट इच्छा रखनेवाले शिष्य का प्रश्न! अंतर में सच्ची आतुरतापूर्वक प्रश्न उठा है। आचार्यदेव उसे भेदज्ञान की रीति समझाते हैं:—

हे वत्स! आत्मा और बंध के नियत स्वलक्षणों की सूक्ष्म अंतरंग संधि में प्रज्ञाछैनी को सावधान होकर पटकने से उन्हें छेदा जा सकता है और इसप्रकार बंध से पृथक् आत्मा का अनुभव होता है—ऐसा हम जानते हैं।

देखो, आचार्यदेव स्वानुभव से भेदज्ञान की रीति बतलाते हैं। आत्मा और बंध अज्ञान के कारण एक-से प्रतीत होते हैं, किंतु वास्तव में वे भिन्न ही हैं—ऐसा हम प्रज्ञा द्वारा जानते हैं। प्रज्ञाछैनी द्वारा उन्हें वास्तव में पृथक् किया जा सकता है।

अंतर में कोई लक्ष बाँधकर शिष्य कहता है कि—प्रभो! आप जो कहते हैं, वह तो समझ में आता है, किंतु उन दोनों को छेदकर बंध से पृथक् आत्मा का साक्षात् अनुभव कैसे होता है?—अंतर में पृथक्त्व का अभ्यास करते-करते निकट आया हुआ शिष्य, भेदज्ञान की आतुरता से प्रश्न करता है—अंतर अभिलाषा से पूछता है और श्रीगुरु जो कुछ उसे समझाते हैं तुरन्त समझ जाता है। इसलिये उसके अंतर में सुंदर आनन्दमय बोध तरंगें उछलती हैं। इसप्रकार सावधानीपूर्वक गिराई जानेवाली प्रज्ञाछैनी ही आत्मा के मोक्ष का साधन है।

प्र....ज्ञा अर्थात् विशेष ज्ञान, तीक्ष्ण ज्ञान; तीव्र—उग्र सूक्ष्म ज्ञान; उसके द्वारा आत्मा और बंध दोनों के भिन्न-भिन्न लक्षणों को जानकर उन्हें पृथक् किया जा सकता है। उन दोनों के भिन्न-भिन्न लक्षण कैसे हैं? सो समझाते हैं:—

आत्मा का स्वलक्षण तो 'चैतन्य' है,
और बंध का स्वलक्षण रागादिक है।

चैतन्य—जो कि आत्मा का स्वलक्षण है वह-शेष समस्त द्रव्यों से असाधारण है; वह चैतन्य उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप वर्तता हुआ जिन-जिन गुण पर्यायों में व्याप्त होकर वर्तता है, वह आत्मा;—इसप्रकार चैतन्य लक्षण से आत्मा को लक्षित करना चाहिये। आत्मा चिन्मात्र है—ऐसा लक्ष में लेने से सहवर्ती अनंत गुण तथा क्रमवर्ती अनंत पर्यायें उसमें आ जाती हैं, किंतु राग उसमें नहीं आता। आत्मा से भिन्न ऐसे रागादिक तो बंध का स्वलक्षण है, वे रागादिभाव कहीं चैतन्य की भाँति आत्मा के समस्त गुण-पर्यायों में व्याप्त नहीं होते, वे तो चैतन्य चमत्कार से सदैव भिन्नरूप ही भासित होते हैं। चैतन्यरहित आत्मलाभ कभी संभव नहीं है, किंतु रागरहित आत्मलाभ तो संभव है। चैतन्यरहित-चैतन्य से भिन्न आत्मा कभी प्राप्त नहीं हो सकता, किंतु रागरहित—राग से भिन्न आत्मा तो प्राप्त नहीं होता है—अनुभव में आता है। अहो! चैतन्य और राग की कितनी स्पष्ट भिन्नता! भाई, तुझे अपना चैतन्य जीवन सफल करना हो—सच्चा सुखी जीवन जीना हो तो राग को अपने चैतन्य-गृह में मत आने देना। अपने चैतन्य को राग से पृथक् रखना।

ज्ञान में भिन्न ज्ञेयरूप से रागादिक ज्ञात होते हैं, वह तो ज्ञान का चेतकपना प्रगट करते हैं; वह कहीं ज्ञान को रागरूप घोषित नहीं करते। और ज्ञान भी उन रागादिक को रागरूप ही जानता है, उन्हें स्व-रूप (ज्ञानरूप) नहीं जानता। ज्ञान ऐसा जानता है कि यह जो ज्ञाता है, सो मैं हूँ, तथा जो रागरूप से ज्ञात होता है, वह मैं नहीं हूँ, वह तो बंधभाव है; उस बंधभाव में चेतकपना नहीं है। मेरे चेतकपने में वह ज्ञेयरूप से ज्ञात होता है। इसप्रकार ज्ञेय-ज्ञायकपने का निकट संबंध होने पर भी, राग में और ज्ञान में एकता नहीं है किंतु भिन्नता है। निश्चित लक्षण के भेद से उन्हें भिन्न जानते ही अपूर्व भेदज्ञान होकर ज्ञान, राग से पृथक् हो जाता है और ऐसा राग से भिन्नरूप परिणमित होनेवाला ज्ञान ही मोक्ष का साधन है।

जहाँ ज्ञान और राग दोनों को भिन्न-भिन्न जाना वहाँ उनकी एकता का भ्रम नहीं रहता, इसलिये ज्ञान, राग में एकतारूप बंधभाव से नहीं वर्तता, किंतु राग से भिन्न मोक्षभावरूप परिणमित होता है। इसलिये ऐसे पवित्र ज्ञान को आचार्यदेव ने 'भगवती प्रज्ञा' कहकर उसका बहुमान किया है, वही वास्तव में मोक्ष का साधन है।

मोक्ष के साधन की ऐसी मीमांसा कौन करता है?—जो जीव मोक्षार्थी हो, शरणभूत जिन स्वरूप की महिमा द्वारा सांसारिक रस उड़ जाने से जिसके कषाय शांत हो गये हों और जिसके अंतर में मात्र मोक्ष की ही अभिलाषा हो।

ऐसा जिज्ञासु आत्मार्थी जीव, मोक्ष के साधन की मीमांसा करता है, अंतर में गहरा विचार करके निर्णय करता है, भेदज्ञान करता है। अरे जीव! एक बार अंतर की गहराई में उतरकर देख तो तुझे अपने मोक्ष का साधन अपने में ही दिखाई देगा।

२९४वीं गाथा की टीका में आचार्यदेव ने भगवती प्रज्ञा का ही मोक्ष के साधनरूप में वर्णन करके ऊपर से एक अलौकिक कलश भी चढ़ाया है। तीक्ष्ण प्रज्ञाछैनी किसप्रकार आत्मा और बंध को अत्यन्त भिन्न कर देती है, उसके पुरुषार्थ का अद्भुत वर्णन इस १८१वें कलश में किया है—

प्रज्ञाछैनी शितेयं कथमपि निपुणैः पातिता सावधानैः
सूक्ष्मेऽन्तः सन्धिबन्धे निपतति रभसात् आत्मकर्मोभयस्य
आत्मानं मग्नमन्तः स्थिरविशदलसत् धाम्नि चैत्यन्यपूरे
बंधं चाज्ञानभावे नियमितमभितः कुर्वती भिन्नभिन्नौ।

—इस कलश पर भेदज्ञान प्रेरक प्रवचन आगमी अंक में पढ़िये।

महावीराष्टक

यदीये चैतन्ये मुकुर इव भावाश्चिदचितः
समं भ्रान्ति ध्रौव्य-व्यय-जनि-लसन्तोऽन्तरहिताः।
जगत्साक्षी मार्ग-प्रकटन-परो भानुरिव यो
महावीरस्वामी नयन-पथ-गामी भवतु नः॥१॥

शब्दार्थ— (यदीये) जिनके (चैतन्ये) ज्ञान में (चिदचितः) चेतन और जड़ (अन्तरहिताः) अनंत-सभी (भावाः) पदार्थ (ध्रौव्य-व्यय-जनि-लसन्तः) अपनी स्थिरता, नाश और उत्पत्तिरूप पर्यायों के साथ (मुकुर इव) दर्पण की तरह (समम्) एक साथ (भान्ति) झलकते हैं (यो) तथा जो (भानुः इव) सूर्य की तरह (जगत्साक्षी) जगत को प्रकाशित करनेवाले (मार्ग-प्रकटन-परो) एवं मार्ग दिखानेवाले हैं, वे (महावीरस्वामी) महावीरस्वामी (नः) हमारी (नयनपथ-गामी) आँखों के सामने (भवतु) रहें।

अर्थ—जिनके पूर्ण ज्ञान में जड़ और चेतन सभी पदार्थ अपनी पर्यायों को लिए हुए एक साथ दर्पण की तरह झलकते हैं और सूर्य की तरह जगत के प्रकाशक एवं पथप्रदर्शक हैं, वे भगवान महावीर हमारे नेत्रों के समक्ष विद्यमान हैं ॥१॥

अताम्रं यच्चक्षुःकमल-युगलं स्पन्द-रहितं
जनान् कोपाऽपायं प्रकटयति वाऽऽभ्यन्तरमपि।
स्फुटं मूर्तिर्यस्य प्रशमितमयी वाऽतिविमला
महावीरस्वामी नयन-पथ-गामी भवतु नः ॥२॥

शब्दार्थ— (यत्) जिनके (स्पन्दरहितम्) टिमकार रहित (अताम्रम्) तथा लालिमा रहित (चक्षुःकमल-युगलम्) दोनों नेत्र-कमल (वा) और (अतिविमला) अत्यन्त विमल (प्रशमितमयी) एवं शांत (मूर्तिः) मुद्रा (स्फुटम्) स्पष्टतया (जनान्) लोगों को (यस्य) जिनके (वाऽऽभ्यन्तरं अपि) बाहर और भीतर भी (कोपाऽपायम्) क्रोध के अभाव को (प्रकटयति) सूचित करते हैं वे (महावीरस्वामी) महावीरस्वामी (नः) हमारी (नयन-पथ-गामी) आँखों के सामने (भवतु) रहें।

अर्थ—जिनके टिमकाररहित तथा लालिमारहित रहित दोनों नेत्र और अत्यन्त निर्मल एवं प्रशान्त मुद्रा दोनों ही स्पष्टतया लोगों को उनमें क्रोध (गुस्सा) के अभाव को बतलाते हैं, वे भगवान महावीर हमारे पथप्रदर्शक रहें ॥२॥

नमन्नाकेन्द्राली-मुकुट-मणि-भाजाल-जटिलं
लसःपादाम्भोज-द्वयमिह यदीयं तनुभृताम्।
भवज्वाला-शान्त्यै प्रभवति जलं वा स्मृतमपि
महावीरस्वामी नयन-पथ-गामी भवतु नः ॥३॥

शब्दार्थ—(यदीयम्) जिन महावीरस्वामी के (लसत्पाशम्भोजद्वयम्) पावन चरणकमलों में (नमन्नाकेन्द्राली-मुकुटमणि-भाजाल-जटिलम्) बड़ी विभूतिवाले इन्द्रों के समूह भी आकर अपना मस्तक झुकाते हैं और अपने को धन्य मनाते हैं (वा) तथा (इह) लोक में (स्मृतम्) जिनका स्मरण भी (जलम्) जल की तरह (तनुभृताम्) देहधारियों की (भव-ज्वाला-शान्त्यै) संसाररूपी अग्नि को क्षण भर में शांत (प्रभवति) करने में समर्थ है वे (महावीरस्वामी) महावीर भगवान (नः) हमारे (नयन-पथ-गामी) नेत्रों के सामने रहें।

अर्थ—जिन भगवान महावीर के चरणों में असाधारण ऐश्वर्य-सम्पन्न इन्द्र-समूह भी मस्तक झुकाता है और अपने को धन्य मानता है तथा जिनका स्मरण भी संसारी जीवों की संसाररूपी अग्नि को क्षण भर में शमन करने में समर्थ है, वे भगवान महावीर हमारे पथप्रदर्शक रहें ॥३॥

यदर्च्चाभावेन प्रमुदित-मना दुर्दर य इह
क्षणादासीत्स्वर्गी गुण गण-समृद्धः सुख निधिः।
लभन्ते सद्भक्ताः शिव-सुख-समाजं किमु तदा
महावीरस्वामी नयन-पथ-गामी भवतु नः ॥४॥

शब्दार्थ—(यदर्च्चाभावेन) जिनकी पूजा के भाव मात्र से (प्रमुदितमनाः) हर्षित होता हुआ (इह) इस लोक में (इह) इस लोक में (य दर्दुरः) एक साधारण मेंढ़क (क्षणात्) क्षण भर में (गुण-गण-समृद्धः) अनेक गुणों से सम्पन्न (सुख-निधिः) एवं सुख की खानि (स्वर्गी) स्वर्ग में उत्तम देव (आसीत्) हुआ (तदा) तो (सदभक्ताः) उत्तम भक्ति करनेवाले (शिव-सुख-समाजम्) मोक्ष के सुखों को (लभन्ते) प्राप्त करें तो (किमु) क्या आश्चर्य है ? (महावीरस्वामी) ऐसे वे महावीरस्वामी (नः) हमारे (नयन-पथ-गामी) नेत्रों के सामने (भवतु) विद्यमान रहें।

अर्थ—जिनकी पूजा के भाव मात्र से एक मेंढ़क मरकर स्वर्ग में उत्तम देव हुआ और वहाँ अनेक ऋद्धियों का स्वामी तथा अपूर्व सुख का भोक्ता बना, उनकी (भाव और द्रव्य दोनों से) भक्ति करनेवाले यदि मोक्ष सुख को प्राप्त करें तो क्या आश्चर्य है ? अपितु कोई आश्चर्य नहीं है। इसप्रकार के प्रभाववाले वे भगवान महावीर सदैव हमारे पथप्रदर्शक रहें ॥४॥

कनत्स्वर्णाभासो ऽप्यपगत-तनुर्ज्ञान-निवहो
विचित्राऽऽत्माऽप्येको नृपतिवर-सिद्धार्थ-तनयः।
अजन्माऽपि श्रीमान् विगत-भव-रागोद्भुत-गति-
र्महावीरस्वामी नयन-पथ-गामी भवतु नः ॥५॥

शब्दार्थ—(कनत्स्वर्णाभासः) जिनके शरीर की कान्ति स्वर्ण के समान थी (अपि) फिर भी (अपगततनुः) शरीर रहित थे, (ज्ञान-निवहः) तथा बड़े ज्ञानी थे, (विचित्रात्मा अपि) अनेक [गुणों तथा पर्यायों से सहित] होते हुये भी (एकः) एक थे, (नृपतिवर-सिद्धार्थ-तनयः) राजा सिद्धार्थ के पुत्र थे (अपि) फिर भी (अजन्मा) जन्म रहित थे, (श्रीमान्) लक्ष्मीवान् होते हुए

(अपि) भी (विगत-रागोद्भुत-गतिः) वीतरागी थे, ऐसे वे (महावीरस्वामी) भगवान महावीर (नः) हमारे (नयन-पथ-गामी) नेत्रों के सामने (भवतु) रहें।

अर्थ—इस पद्य में विरोधालंकार दिखाया गया है। भगवान महावीर के पौद्गलिक शरीर की कांति स्वर्ण के समान थी, पर मोक्ष प्राप्त हो जाने पर वे अशरीरी हो गये और मात्र ज्ञानपुंज बन गये। वे अनेक रूप और एकरूप थे। नाना गुणों और पर्यायों से वे अनेक थे और आत्मद्रव्य से वे एक थे। लोक दृष्टि से वे राजा सिद्धार्थ के पुत्र थे, पर परमार्थ दृष्टि (अध्यात्म) से जन्म रहित थे—राजा सिद्धार्थ से उनका पौद्गलिक शरीर उत्पन्न होने से वे उनके पुत्र कहे जाते हैं और उनसे उनका आत्मा पैदा न होने से वे अजन्मा हैं। इसीतरह वे आभ्यन्तर लक्ष्मी (अनंत चतुष्टयादि रूप श्री) से विशिष्ट थे और पूर्ण वीतरागी थे। इस तरह जो विरोध को लिए हुए हैं, पर कोई विरोध नहीं। वे भगवान महावीर हमारे नेत्रों के सामने सदैव विद्यमान रहें ॥५॥

यदीया वाग्गङ्गा विविध-नय-कल्लोल-विमला
बृहज्ज्ञानाम्भोभिर्जगति जनतां या स्नपयति।
इदानीमप्येषा बुधजन-मरालैः परिचिता
महावीरस्वामी नयन-पथ-गामी भवतु नः ॥६॥

शब्दार्थ—(यदीया) जिनकी (वाग्गङ्गा) पवित्र वाणी गंगा के समान (विविधनय-कल्लोल-विमला) अनेक नयोंरूपी लहरों से शोभित है (वृहज्ज्ञानाम्भोभिः) और विपुल ज्ञानरूपी जल समूह से (जगति) जगत के (जनतां) जीवों को (स्नपयति) पवित्र करती है (इदानीं अपि) तथा आज भी (या एषा) जो (बुधजनमरालैः) असंख्य विवेकी जनों द्वारा हंसों की तरह (परिचिता) आश्रयणीय है (महावीरस्वामी) वे महावीरस्वामी (नः) हमारे (नयन-पथ-गामी) नेत्रों के सामने (भवतु) विद्यमान रहें।

अर्थ—जिनकी पवित्र वाणी गंगा की तरह जगत के जीवों के पाप-मल को दूर कर उन्हें पवित्र बनाती है और विद्वान हंसों की तरह उनका आश्रय लेते हैं। वे भगवान महावीर हमारे नेत्रों के समक्ष रहें ॥६॥

अनिर्वारोद्रेकस्त्रिभुवन-जयी काम-सुभटः
कुमाराऽवस्थायामपि निजबलाद्येन विजितः।

स्फुरन्नित्याऽऽनन्द-प्रशम-पद-राज्याय स जिनः
महावीरस्वामी नयन-पथ-गामी भवतु नः ॥७॥

शब्दार्थ—(येन) जिन्होंने (कुमारावस्थायाम्) अपनी कुमारावस्था (अपि) भी (निजबलात्) अपने पराक्रम से (अनिर्वारोद्रेकः) दुर्जेय (त्रिभुवनजयी) त्रिलोकजयी (काम-सुभटः) कामदेवरूपी महान् योद्धा को (विजितः) परास्त कर किया (स्फुरन्नित्यानन्द-प्रशमपद-राज्याय) और उज्ज्वल एवं शाश्वत् आनन्दवाले प्रशम [शिव] पद के राज्य को प्राप्त किया (स जिनः) वे जिनेन्द्र (महावीरस्वामी) महावीरस्वामी (नः) हमारी (नयन-पथ-गामी) आँखों के सामने (भवतु) रहें।

अर्थ—जिन्होंने अपनी कुमार वय में ही कामदेवरूपी योद्धा को परास्त किया तथा शिव पद का उत्तम एवं शाश्वत् राज्य प्राप्त किया, जहाँ अपार आनन्द है। वे महावीर भगवान हमारे सदा पथप्रदर्शक रहें ॥७॥

महा-मोहाऽऽतङ्क-प्रशमन-पराऽऽकस्मिक-भिषङ्
निरापेक्षो बन्धुर्विदित-महिमा मङ्गलकरः।
शरण्यः साधूनां भव-भय-भृतामुत्तमगुणो
महावीरस्वामी नयन-पथ-गामी भवतु नः ॥८॥

शब्दार्थ—(महामोहाऽऽतङ्क-प्रशमन-पराऽऽकस्मिक-भिषङ्) जो महान मोहरूपी रोग को शान्त करने के लिए अकस्मात् प्राप्त उत्तम वैद्य की तरह (निरपेक्षः) निरपेक्ष (बन्धुः) उपकारी हैं, (विदित-महिमा) जिनका प्रभाव सर्व विदित है, (मङ्गलमयः) मंगलकारी हैं, (भव-भय-भृताम्) और संसार से भयभीत प्राणियों (साधूनाम्) तथा साधुजनों को (शरण्यः) शरण देनेवाले हैं, (उत्तमगुणः) एवं उत्तम गुणों से युक्त हैं, (महावीरस्वामी) वे महावीरस्वामी (नः) हमारी (नयन-पथगामी) आँखों के सामने (भवतु) रहें।

अर्थ—जो मोहरूपी रोग को शांत करने के लिए उत्तम वैद्य की तरह महोपकारी हैं, महिमाशाली हैं, मंगलमय हैं, समस्त जीवों को शरण देनेवाले हैं और उत्तमोत्तम गुणों से सम्पन्न हैं, वे भगवान महावीर हमारे पथ प्रदर्शक रहें ॥८॥

महावीराऽष्टकं स्तोत्रं भक्त्या भागेन्दुना कृतम्।
यः पठेच्छृणुयाच्चाऽपि स याति परमां गतिम्॥

शब्दार्थ—(यः) जो मनुष्य (भागेन्दुना) श्री पंडित भागचन्द्रजी द्वारा (कृतम्) रचित (महावीराष्टकम्) इस महावीराष्टक (स्तोत्रम्) स्तवन को (भक्त्या) भक्तिपूर्वक (पठेत्) पढ़ता है, (च) अथवा (श्रुणुयात्) सुनता है, (स) वह (परमाम्) परम उच्च (गतिम्) गति को (याति) प्राप्त करता है ॥९॥

अर्थ—जो व्यक्ति भक्तिपूर्वक इस महावीराष्टक स्तवन को पढ़ता या सुनता है, वह शाश्वत पद (निर्वाण) को प्राप्त करता है। इसके रचयिता विद्वद्वर पंडित भागचन्द्रजी हैं।

मोक्षमार्ग एक ही है

दो या तीन नहीं

(१) भगवान श्री कुन्दकुन्द आचार्यदेव श्री प्रवचनसार गाथा ८२, ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन अधिकार में कहते हैं कि:—

सव्वे वि य अरं ता तेण विधाणेण खविद कम्मंसा।
किच्चा तथोवदेसं णिव्वादा ते णमो तेसिं॥८२॥

इसका शब्दार्थ निम्नोक्तानुसार है:—

'सर्व अरिहंत भगवान उसी विधि से कर्मांशों का (ज्ञानावरणादि कर्म भेदों का) क्षय करके तथा (अन्य को भी) उसीप्रकार उपदेश देकर मोक्ष को प्राप्त हुये हैं। उन्हें नमस्कार हो।'

(२) इस गाथा में भरा हुआ रहस्य प्रगट करते हुए टीकाकार भगवान अमृतचन्द्र आचार्य कहते हैं कि:—

''अतीत काल में क्रमशः हो गये समस्त तीर्थंकर भगवंत, प्रकारांतर का (अन्य प्रकार का) असंभव होने के कारण जिसमें द्वैत की संभावना नहीं है, ऐसे इसी एक प्रकार से कर्मांशों के क्षय का

स्वयं अनुभव करके, तथा (तथा) परमाप्तपने के कारण भविष्य काल में अथवा इस (वर्तमान)* काल में अन्य मुमुक्षुओं को भी इसीप्रकार उसका (कर्मक्षय का) उपदेश करके, निःश्रेयस को प्राप्त हुए हैं; इसलिये निर्वाण का** अन्य (कोई) मार्ग नहीं है, ऐसा निर्णय होता है। अथवा, प्रलाप से बस होओ; मेरी मति व्यवस्थित× हुई है। भगवंतों को नमस्कार हो।''

[२]

(३) फिर उसी शास्त्र के 'ज्ञेय तत्त्व प्रज्ञापन' नामक द्वितीय श्रुतस्कंध की १९९वीं गाथा में भगवान श्री कुन्दकुन्द आचार्यदेव कहते हैं:—

एवं जिणा जिणिदा सिद्धा मग्गं समुट्ठिदा समणा।
जादा णमोत्थु तेसिं तस्स य णिव्वाण मगस्स॥१९९॥

इसका शब्दार्थ निम्नोक्तानुसार है:—

''जिन, जिनेन्द्र और श्रमण (अर्थात् सामान्य केवली, तीर्थंकर तथा मुनि) इस रीति से (पूर्वोक्त रीति से ही) मार्ग में आरूढ़ होते हुए सिद्ध हुए। नमस्कार हो, उन्हें और उनके निर्वाणमार्ग को।''

(४) इस गाथा की टीका में आचार्य श्री अमृतचंद्रजी निम्नानुसार कहते हैं:—

''समस्त सामान्य चरमशरीरी तीर्थंकर तथा अचरमशरीरी मुमुक्षु इसी यथोक्त शुद्धात्मतत्त्व प्रवृत्ति लक्षण (शुद्धात्मतत्त्व में प्रवृत्ति जिसका लक्षण है ऐसी) विधि द्वारा प्रवर्तित मोक्ष के मार्ग को प्राप्त करके सिद्ध हुए।''

''परंतु ऐसा नहीं है कि अन्य रीति से भी हुए हों; इसलिये निश्चित होता है कि मात्र यह एक ही मोक्ष का मार्ग है अन्य×× नहीं है।—विस्तार से बस होओ!

---

* *तीनों काल मोक्षमार्ग अर्थात् धर्म का मार्ग एक ही है। इस पंचमकाल में धर्म अन्य प्रकार से होता है, ऐसी मान्यता भूलयुक्त है।*

** *दो मोक्षमार्ग वास्तव में हैं, ऐसा मानना वह प्रलाप है—ऐसा आचार्यदेव कहते हैं; इसलिये एक ही मोक्षमार्ग मानना ही उचित है।*

× *जो एक से अधिक मोक्षमार्ग मानते हैं, उनकी मति अव्यवस्थित अर्थात् विपरीत है—ऐसा समझना। एक से अधिक मोक्षमार्ग मानना वह संवर, निर्जरा और मोक्ष—इन तीनों तत्त्वों की विपरीत मान्यता है, विपरीत श्रद्धा है। इसलिये वह श्रद्धा छोड़ना चाहिये।*

×× यह बात मुख्यतः लक्ष में रखने योग्य है कि—सर्व भावलिंगी मुनियों को—भगवान कुंदकुंदाचार्यादि सर्व को-छठवें गुणस्थान में उस भूमिकानुसार चारित्र की आंशिक शुद्धि के उपरांत व्यवहार मोक्षमार्ग था, किंतु वह तो चारित्र का दोष होने से वे उसे किंचित् भी मोक्षमार्ग नहीं मानते थे। (देखिये, समयसार कलश टीका, पुण्य-पाप अधिकार)

''उन शुद्धात्मतत्त्व में प्रवर्तित सिद्धों को तथा उस शुद्धात्म-प्रवृत्तिरूप मोक्षमार्ग को, जिसमें से भाव्य-भावक* का विभाग अस्त हो गया है, ऐसा नो आगमभाव-नमस्कार हो।

मोक्षमार्ग अवधारित किया है, कृत्य किया जारहा है (अर्थात् मोक्षमार्ग निश्चित किया है और उस मोक्षमार्ग में** प्रवर्तन कर रहे हैं।)''

[३]

(५) उसी शास्त्र में चरणानुयोगसूचक चूलिका नामक तीसरा एवं अंतिम श्रुतस्कंध है। उस अधिकार में क्या कहा है—वह अब हम देखें।

(६) प्रथम गाथा २३६ की टीका के अंतिम भाग में नियम कहा है, वहाँ बतलाया है कि—

इससे आगमज्ञान-तत्त्वार्थश्रद्धान-संयतत्व के युगपत्पने को ही मोक्षमार्गपना होने का नियम होता है।

(७) तत्पश्चात् उसी अधिकार में मोक्षमार्गप्रज्ञापन का उपसंहार करते हुए गाथा २४४ की टीका में श्री अमृतचंद्राचार्य कहते हैं कि—

टीका—जो ज्ञानात्मक आत्मारूप एक अग्र को (विषय को) भाता है, वह ज्ञेयभूत अन्य द्रव्य का आश्रय नहीं करता,× और उसका आश्रय न करके ज्ञानात्मक आत्मज्ञान से अभ्रष्ट ऐसा वह स्वयमेव ज्ञानी रहता हुआ, मोह नहीं करता, राग नहीं करता, द्वेष नहीं करता, और ऐसा (—अमोही, अरागी, अद्वेषी) वर्तता हुआ छूटता ही है, किंतु बँधता नहीं है।

'इसलिये एकाग्रता को ही मोक्षमार्गपना सिद्ध होता है।'

(८) इसप्रकार श्री प्रवचनसार के तीनों श्रुतस्कंधों में मोक्षमार्ग एक ही है, ऐसा ढिंढ़ोरा पीटकर घोषित किया है।

[४]

(९) श्री नियमसार शास्त्र में भी मोक्षमार्ग एक ही होना भारपूर्वक बतलाया है।

---

* *भाव्य और भावक का अर्थ श्री प्रवचनसार गाथा ७ की टीका में दिया है, वहाँ देख लें।*

** *स्वयं मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति कर रहा है ऐसा छद्मस्थ निर्णय कर सकता है। वह सम्यक् श्रुतज्ञान द्वारा निर्णीत हो सकता है और आचार्यदेव ने स्वयं अपने श्रुतज्ञान द्वारा निर्णय किया है ऐसा वे बतलाते हैं। अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी तथा केवलज्ञानी ही वह निर्णय कर सकते हैं—यह मान्यता अयथार्थ है।*

× *व्यवहार मोक्षमार्ग में परद्रव्य का आश्रय होता है, इसलिये वह सच्चा मोक्षमार्ग नहीं है—ऐसा समझना।*

(१०) प्रथम जीव अधिकार गाथा-२ की टीका में कहते हैं कि:—

''निज परमात्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठानरूप शुद्ध रत्नत्रयात्मक मार्ग परमनिरपेक्ष* होने से मोक्ष का उपाय है और उस शुद्ध रत्नत्रय का फल स्वात्मोपलब्धि (निज शुद्ध आत्मा की प्राप्ति) है।''

(११) नियमसार गाथा १४-१५ में स्वभावपर्याय को निरपेक्ष भगवान कुंदकुंदाचार्यदेव ने कहा है। इसप्रकार मोक्षमार्ग एक ही होने से वह परमनिरपेक्ष* होता है।

(१२) उसी शास्त्र में कलश २३ है, जिसका अर्थ निम्नानुसार होता है:—

दृष्टि-ज्ञप्ति-वृत्तिस्वरूप (दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप से परिणमित) ऐसा एक ही चैतन्य सामान्यरूप निज आत्मतत्त्व, वह मोक्षेच्छुओं को (मोक्ष का) प्रसिद्ध मार्ग है; इस मार्ग के बिना मोक्ष नहीं है।

[५]

(१३) पण्डितप्रवर श्री टोडरमलजी अपने 'मोक्षमार्गप्रकाशक' नामक शास्त्र में लिखते हैं कि:—

'अब मोक्षमार्ग तो कहीं दो हैं नहीं; किंतु मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार का है। जहाँ सच्चे मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग निरूपण किया है, वह निश्चय मोक्षमार्ग है; तथा जहाँ जो मोक्षमार्ग तो नहीं है किंतु मोक्षमार्ग का निमित्त व सहचारी है, उसे उपचार से मोक्षमार्ग कहें, वह व्यवहार मोक्षमार्ग है क्योंकि निश्चय-व्यवहार का सर्वत्र (चारों अनुयोगों में) ऐसा ही लक्षण है; अर्थात् सच्चा निरूपण, सो निश्चय तथा उपचार निरूपण, सो व्यवहार।

(१४) इसलिये निरूपण की अपेक्षा से दो प्रकार के मोक्षमार्ग जानना, किंतु एक निश्चय मोक्षमार्ग है तथा एक व्यवहार मोक्षमार्ग है—ऐसे दो मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है।

(१५) तथा वह निश्चय-व्यवहार दोनों को उपादेय मानता है, वह भी भ्रम है; क्योंकि निश्चय-व्यवहार का स्वरूप तो परस्पर विरोध सहित है। श्री समयसार (गाथा-११) में भी कहा है कि:—

''ववहारोऽभूयत्थो, भूयत्थो देसिदोहु सुद्धणओ।''

---

* व्यवहारमोक्षमार्ग की अपेक्षा सच्चे मोक्षमार्ग में नहीं होती। व्यवहार मोक्षमार्ग तो पर की अपेक्षा रखता है, इसलिये वह मोक्षमार्ग ही नहीं है।

अर्थ—व्यवहार अभूतार्थ है। सत्य स्वरूप निरूपण नहीं करता। किंतु किसी अपेक्षा* से उपचार से अन्यथा निरूपण करता है, तथा निश्चय शुद्धनय है—भूतार्थ है 'क्योंकि वह वस्तुस्वरूप का यथावत् निरूपण करता है; इसप्रकार उन दोनों का स्वरूप तो विरुद्धता** सहित है।''

[६]

(१६) 'मोक्षमार्गप्रकाशक की किरणें' भाग-२, पृष्ठ ३, ४, ९ आदि में कहते हैं कि:—

''मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार से किया है। उसमें वीतरागी निर्विकल्पदशा, सो निश्चय -मोक्षमार्ग और रागव्रतादि की दशा, सो व्यवहारमोक्षमार्ग है। एक सच्चा मोक्षमार्ग और दूसरा निमित्त, उपचार, सहकारी या मिथ्या मोक्षमार्ग—ऐसे दो प्रकार से मोक्षमार्ग का निरूपण है। अखण्ड आत्मस्वभाव के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग प्रगट हुआ। वह सच्चा मोक्षमार्ग है। उस समय जो राग-विकल्प है, वह मोक्षमार्ग नहीं है किंतु उसे उपचार से मोक्षमार्ग कहा है; अर्थात् वह निमित्त, सहचर, उपचार तथा व्यवहार ऐसे चार प्रकार से (व्यवहार) मोक्षमार्ग का निरूपण किया है।×××

×××निश्चय मोक्षमार्ग एक ही है—ऐसा ज्ञानी मानते हैं। मिथ्यादृष्टि दो नयों का साधन रखते हैं; दो मोक्षमार्ग मानते हैं और दोनों नयों का उपादेय मानते हैं—ऐसे तीन प्रकार से भूल करते हैं। शुभराग मोक्षमार्ग नहीं है किंतु मोक्षमार्ग में निमित्त है—सहचारी है। इसलिये जिसे निश्चय मोक्षमार्ग प्रकट हुआ है, उसके मंदकषाय को उपचार से मोक्षमार्ग कहा है। ऐसा—निश्चय व्यवहार का स्वरूप है×××इसलिये मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार से जानना, किंतु एक निश्चय मोक्षमार्ग है तथा एक व्यवहार मोक्षमार्ग है—ऐसे दो मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है। ×××व्यवहारनय अन्यथा कहता है अर्थात् बंधमार्ग को मोक्षमार्ग कहता है और निश्चयरूप यथावत् निरूपण करता है।×××

(१७) निश्चय मोक्षमार्ग तो आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान और रमणता है, तथा उस समय जो शुभराग होता है, उसे मोक्षमार्ग मानना, सो व्यवहार है। दया, दान, भक्ति का राग तो मोक्षमार्ग से

---

* *व्यवहाररूप अन्यथा अर्थात् सत्य से अन्य प्रकार निरूपण करता है, तथा किसी अपेक्षा से उपचार कथन करता है, इसलिये प्रत्येक अभ्यासी को—यह कथन किस अपेक्षा से किया है, उसका निर्णय करना ही चाहिये। तथा उस उपचार का प्रयोजन क्या है, उसका भी निर्णय करना चाहिये। यदि ऐसा न करे तो उसका ज्ञानाभ्यास निष्फल जाता है।*

** *व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चय मोक्षमार्ग से विरुद्ध है, इसलिये वह संवर-निर्जरारूप नहीं है, किंतु आस्रव-बंधरूप है।*

विरुद्ध बंधमार्ग है, किंतु वह निमित्त है। इसलिये उपचार से उसे मोक्षमार्ग मानना, वह व्यवहार है—ऐसा कहा है; किंतु अज्ञानी बाह्य प्रवृत्ति को व्यवहार कहता है; इसलिये उसे व्यवहार की भी खबर नहीं है।

[७]

(१८) ऐसे दो प्रकार के मोक्षमार्ग का प्ररूपण (निरूपण) होता है—ऐसा भगवान श्री कुंदकुंदाचार्यदेव ने समयसार की ४१४ वीं गाथा में कहा है। उस गाथा के अर्थ को स्पष्ट करते हुए श्री अमृतचंद्राचार्य उसकी टीका में कहते हैं कि:—

श्रमण और श्रमणोपासक के भेद से दो प्रकार के द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग है—ऐसा जो प्ररूपण प्रकार (अर्थात् इसप्रकार की जो प्ररूपणा), वह मात्र व्यवहार ही है, परमार्थ नहीं है, क्योंकि वह प्ररूपणा स्वयं अशुद्ध द्रव्य के अनुभवनस्वरूप होने के उसमें परमार्थपने का अभाव है।

श्रमण और श्रमणोपासक के भेदों से अतिक्रांत, दर्शनज्ञान में प्रवृत्त परिणति मात्र [मात्र दर्शन-ज्ञान में प्रवर्तित परिणतिरूप] शुद्धज्ञान ही एक है-ऐसा निस्तुष (निर्मल) अनुभवन, सो परमार्थ है, क्योंकि वह [अनुभवन] स्वयं शुद्ध द्रव्य के अनुभवनस्वरूप होने से उसी को परमार्थपना कहा है। इसलिये जो व्यवहार का ही परमार्थबुद्धि से [परमार्थ मानकर] अनुभवन करते हैं, ये समयसार का अनुभव ही नहीं करते, जो परमार्थ का* परमार्थ बुद्धि से अनुभवन करते हैं, वे ही समयसार का अनुभव करते हैं।''

[८]

(१९) श्री प्रवचनसार की गाथा १ से ५ की टीका में श्री अमृतचंद्र आचार्य इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि:—

जिसमें कषायकण विद्यमान होने से जो जीव को पुण्य बंध की प्राप्ति का कारण है—ऐसे सरागचारित्र को—वह [सरागचारित्र] क्रम में आ पड़ा होने पर भी [गुणस्थान-आरोहण के क्रम में बलात् अर्थात् चारित्रमोह के मंद उदय से आ पड़ा होने पर भी] दूर लाँघकर, जो समस्त कषाय क्लेशरूप कलंक से भिन्न होने के कारण निर्वाण की प्राप्ति का कारण है, ऐसे वीतरागचारित्र नाम के साम्य को प्राप्त करता हूँ।

---

* *व्यवहार करते-करते निश्चय होता है—ऐसा माननेवाले व्यवहार का अतिक्रांत (उल्लंघन) नहीं कर सकते, इसलिये उन्हें कभी परमार्थबुद्धि नहीं होती।*

(२०) यहाँ जो कहा है, उसका सार निम्नोक्त है—

(१) व्यवहारमोक्षमार्ग कषायकण है, वह बंध की प्राप्ति का कारण है।

(२) वह प्रत्येक साधक जीव को क्रम में आ पड़े बिना नहीं रहता, किंतु वह मोक्ष का कारण या मार्ग नहीं है।

(३) उसे लाँघ जाना अर्थात् उससे अतिक्रांत होना, सो मोक्ष (निर्वाण) की प्राप्ति का कारण है।

(४) व्यवहारमोक्षमार्ग कषायक्लेशरूप कलंक है।

(५) निश्चयमोक्षमार्ग समस्त कषाय क्लेश से भिन्न है।

(२१) श्री जयसेनाचार्य इस गाथा की टीका में कहते हैं कि :—

'वह क्रम में आ पड़ा सरागचारित्र पुण्यबंध का कारण है—ऐसा जानकर, उसका परिहार करके निश्चय शुद्धात्मानुभूतिरूप वीतरागचारित्र ग्रहण करना, यह भावार्थ है।'

[परिहार करना, दूर से लाँघ जाना, उससे अतिक्रांत होना—यह सब एक ही है।]

[९]

(२२) पण्डितप्रवर श्री टोडरमलजी मोक्षमार्गप्रकाशक अधिकार ८, पृष्ठ ३१५ में कहते हैं कि:—

''यथा—'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग'—ऐसा जो एक सूत्र कहा है, उसका अर्थ यह है कि—तीनों मिलकर एक मोक्षमार्ग है किंतु भिन्न-भिन्न तीन मार्ग नहीं है।

[१०]

(२३) व्यवहार भाव अर्थात् व्यवहार श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप व्यवहारमोक्षमार्ग मुझसे पर है, ऐसा जानना—ऐसा भगवान कुंदकुंदाचार्यदेव श्री समयसार की २९७वीं गाथा में कहते हैं। वह गाथा निम्नानुसार है:—

पण्णाए छित्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा जे मज्झ परे त्ति णायव्वा॥२९७॥

अर्थ—प्रज्ञा द्वारा (आत्मा को) इसप्रकार ग्रहण करना चाहिये कि—जो चेतनेवाला है, वह निश्चय से मैं हूँ; शेष जो भाव हैं, वे मुझसे पर हैं - ऐसा जानना।

(२४) इस गाथा की टीका करते हुए श्री अमृतचंद्राचार्य लिखते हैं कि:—

''नियत स्वलक्षण का अवलम्बन लेनेवाली प्रज्ञा द्वारा पृथक् किया गया जो चेतक (चेतनेवाला), सो यह मैं हूँ; तथा अन्य स्वलक्षणों से लक्ष्य [अर्थात् चैतन्य लक्षण के अतिरिक्त अन्य लक्षणों से पहिचान में आने योग्य] जो यह शेष व्यवहाररूप भाव हैं, वे सब चेतकपनेरूपी व्यापक के व्याप्य न होने के कारण, मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं।''

(२५) श्री जयसेनाचार्य भी इस गाथा की टीका में कहते हैं कि व्यवहार भाव आत्मा से अत्यंत भिन्न है—

(२६) इससे सिद्ध होता है कि साधक जीवों को चौथे-पाँचवें-छट्ठे गुणस्थान में उस-उस गुणस्थान के अनुसार शुद्धि के अतिरिक्त व्यवहारभाव होते अवश्य हैं, वे बलजबरी से आये बिना नहीं रहते, किंतु धर्मी जीव उन्हें आत्मिक शुद्धभाव नहीं मानते और उन्हें लाँघ जाने का पुरुषार्थ करते रहते हैं; इसलिये वे भाव वास्तव में मोक्षमार्ग नहीं है, किंतु बंधभाव है। उस भूमिका में हेयबुद्धि से साधक जीवों को वे भाव होने से तथा वे पर होने से उन्हें निमित्त, भिन्न साधन, बहिरंग कारण आदि कहा जाता है, किंतु उसके उन भावों का अनात्मिकपना, बंधभावपना नहीं मिट जाता। वे निमित्त होने से उन्हें अभूतार्थ मोक्षमार्ग कहा जाता है।

[११]

(२१) जो जीव व्यवहार से लाभ मानते हैं—उससे (व्यवहार से) थोड़ा धर्म होता है और निश्चय से अधिक धर्म होता है—ऐसा मानते हैं, वे प्रसंग-प्रसंग पर समयसार की गाथा १२ तथा उसकी टीका का आधार देते हैं; किंतु उनकी यह मान्यता भ्रम है क्योंकि वैसा मानने से निश्चय और व्यवहारनय दोनों उपादेय* सिद्ध हुए अर्थात् दोनों भूतार्थ सिद्ध हुए—आश्रय करने योग्य सिद्ध हुए। उनकी यह मान्यता समयसार, गाथा ११ में कहे हुए सिद्धांत के पूर्णतः विरुद्ध है।

(२८) इस विषय पर श्री 'जैनतत्त्वमीमांसा' पृष्ठ २४७ में सुंदर ढंग से और अकाट्य युक्ति से स्पष्टता की गई है। जैन समाज के सुप्रसिद्ध विद्वान श्री पण्डित फूलचन्दजी सिद्धांतशास्त्री ने उसमें कहा है कि:—

''यहाँ ऐसा समझना चाहिये कि—जिसने अभेददृष्टि का आश्रय करके पर्यायदृष्टि तथा उपचारदृष्टि को हेय समझ लिया है, वह अपनी श्रद्धा में तो ऐसा ही मानता है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता आदि त्रिकाल में नहीं हो सकता। मेरी जो संसारपर्याय हो रही है, उसका कर्ता

* इसी लेख में पेराग्राफ नं. १५ देखें।

एकमात्र मैं हूँ और मोक्षमार्ग को मैं स्वयं ही अपने पुरुषार्थ से प्रगट करूँगा। उसमें अन्य पदार्थ अकिंचित्कर* है।

तथापि जब तक उसके विकल्पज्ञान की (बुद्धिपूर्वक के रागसहित ज्ञान की) प्रवृत्ति होती रहती है, तब तक उसे उस भूमिका में स्थित रहने के लिये अन्य सुदेव, सुगुरु तथा आप्तोपदेशित आगम आदि हस्तावलम्ब (निमित्त) होते रहते हैं। इसीलिये तो उसके मुख से ऐसी वाणी प्रगट होती है कि—

मुझ कारज के कारण सु आप,
शिव करहु हरहु मम मोहताप।

कुंदकुंद आचार्यदेव ने भी इस भाव को प्रगट करते हुए समयप्राभृत में कहा है कि—

''सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरिसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण जे हु अपरमे ट्ठिदाभावे।''

अर्थ—जो शुद्धनय तक पहुँचकर श्रद्धा के साथ पूर्ण ज्ञान एवं चारित्रवान हो गये हैं, उन्हें तो शुद्ध (आत्मा) का उपदेश करनेवाला शुद्धनय जानने योग्य है और जो अपरमभाव में अर्थात् श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र के पूर्णभाव को न पहुँच कर साधकदशा में ही स्थित हैं, वे व्यवहार द्वारा उपदेश करने योग्य हैं ॥१२॥

आशय यह है कि जो अभेद रत्नत्रयरूप अवस्था को प्राप्त हो गये हैं, उन्हें पुद्गल संयोग के निमित्त से होनेवाली अनेकरूपता को कहनेवाला व्यवहारनय किसी मतलब का नहीं है; किंतु इतना अवश्य है कि अशुद्धनय का कथन यथापदवी विकल्पदशा में ज्ञान कराने के लिये प्रयोजनवान है।

तात्पर्य यह है कि अनुत्कृष्ट (मध्यम) भाव का जो अनुभव करता है, उस साधक जीव को परिपूर्ण शुद्धनय (केवलज्ञान) की प्राप्ति न हो, तब तक **श्रद्धा में स्वभावदृष्टि की ही मुख्यता रहती है। वह भूलकर भी व्यवहारदृष्टि को उपादेय नहीं मानता।**

व्यवहार धर्मरूप प्रवृत्ति होना वह एक बात है और व्यवहार धर्म को आत्मकार्य या मोक्षमार्ग मानना वह दूसरी बात है।

सम्यग्दृष्टि मोक्षमार्ग तो स्वभावदृष्टि की प्राप्ति और उसमें स्थिति को ही समझता है। यदि

* व्यवहारमोक्षमार्ग जीव से अन्य है—ऐसा समयसार गाथा २९७ में कहा है, इसलिये वह धर्म के लिये अकिंचित्कर है।

उसकी वह दृष्टि न रहे तो वह सम्यग्दृष्टि ही नहीं हो सकता। मोक्षमार्ग में व्यवहारदृष्टि आश्रय करने योग्य नहीं है, ऐसा जो कहा गया है, उसका यही कारण है।

यह बात कुछ विचित्र तो लगती है कि—स्वभावदृष्टि के सद्भाव में सम्यग्दृष्टि की प्रवृत्ति प्राथमिक अवस्था में रागरूप होती रहती है, किंतु इसमें विचित्रता की कोई बात नहीं है, क्योंकि जिसप्रकार किसी विद्यार्थी का लक्ष्य विद्या प्राप्ति होने पर भी वह सोता है, खाता है, चलता-फिरता है तथा मनोविनोद के अन्य कार्य भी करता है, तथापि वह अपने लक्ष्य से च्युत नहीं होता। उसीप्रकार सम्यग्दृष्टिजीव भी मोक्ष के उपायभूत स्वभावदृष्टि को ही अपना लक्ष्य बनाता है। कदाचित् उसे राग के आश्रय से सच्चे देव, गुरु और शास्त्र की उपासना का भाव होता है, कदाचित् धर्मोपदेश देने और सुनने का भाव होता है, कदाचित् आजीविका के साधन प्राप्त करने का भाव होता है और कदाचित् अन्य भोजनादि कार्यों में भी उसकी रुचि होती है, तथापि वह अपने लक्ष्य से च्युत होकर अन्य कार्यों को ही उपादेय मानने लगे तो जिसप्रकार लक्ष्य से च्युत हुआ विद्यार्थी कभी भी विद्या प्राप्ति में सफल नहीं होता, उसीप्रकार मोक्ष प्राप्ति के उपायभूत स्वभावदृष्टि से च्युत हुआ सम्यग्दृष्टि कभी भी मोक्षरूप आत्मकार्य की साधना में सफल नहीं होता।

तब तो जिसप्रकार विद्या प्राप्तिरूप लक्ष्य से भ्रष्ट हुआ विद्यार्थी, विद्यार्थी नहीं रहता, उसीप्रकार मोक्ष प्राप्ति के उपायभूत स्वभावदृष्टि से भ्रष्ट हुआ सम्यग्दृष्टि, सम्यग्दृष्टि ही नहीं रहता।

इसलिये इस विषय में ऐसा समझना चाहिये कि—सम्यग्दृष्टि को व्यवहारनय ज्ञान करने के लिये यथापदवी प्रयोजनवान होने पर भी वह मोक्षमार्ग की सिद्धि में रंचमात्र भी आश्रय करने योग्य नहीं है।

आचार्यों ने जहाँ-जहाँ व्यवहारदृष्टि को बंधमार्ग और स्वभावदृष्टि को मोक्षमार्ग कहा है, वहाँ-वहाँ इसी अभिप्राय से कहा है।

इसका यदि कोई ऐसा अर्थ करे कि इसप्रकार जो व्यवहारदृष्टि बंधमार्ग सिद्ध हो जाने पर सम्यग्दृष्टि को देवपूजा, गुरुपास्ति, दान और उपदेश आदि देने का भाव ही नहीं होना चाहिये तथा उसे व्यवहार धर्मरूप प्रवृत्ति ही नहीं होना चाहिये तो उसका ऐसा अर्थ करना उचित नहीं है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि को स्वभावदृष्टि हो जाने पर भी रागरूप प्रवृत्ति होती ही नहीं, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता। कारण कि जब तक उसके रागांश विद्यमान हैं, तब तक उसके रागरूप प्रवृत्ति भी होती रहती है। तब तक उसके फलस्वरूप देव-पूजादि व्यवहारधर्म का उपदेश देने का भाव भी होता रहता है, तथा उसरूप आचरण करने का भाव भी होता रहता है; तथापि वह अपनी श्रद्धा में उसे

मोक्षमार्ग नहीं मानता, इसलिये उसका कर्ता नहीं होता। आगम में सम्यग्दृष्टि को अबंधक कहा है, वह इस स्वभावदृष्टि की अपेक्षा से ही कहा है। रागरूप व्यवहार धर्म की अपेक्षा से नहीं।

(३०) उपरोक्त अवतरण का सूक्ष्म अभ्यास करने से प्रत्येक जिज्ञासु को समयसार की १२वीं गाथा का अर्थ भलीभाँति समझ में आ जायेगा।

[१२]

(३१) पुनश्च, इस समयसार की गाथा की टीका में एक उद्धृत श्लोक दिया गया है, जिसका अनेक जीव अपनी प्रज्ञा के दोष से बारम्बार मिथ्या अर्थ करते हैं। श्री पण्डित फूलचन्दजी ने तत्सम्बन्धी जो स्पष्ट एवं निस्तुष युक्ति से जो यथार्थ अर्थ किया है, वह उपयोगी होने से यहाँ दिया जा रहा है।

(३२) उन्होंने उसी पुस्तक के पृष्ठ २१६ से २१७ में जो लिखा है, निम्नानुसार है:—

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि मोक्षमार्ग में निश्चयनय द्वारा यदि व्यवहारनय सर्वथा प्रतिशिद्ध है तो साधक को व्यवहारधर्म की प्रवृत्ति किसप्रकार बन सकेगी और उसके व्यवहारधर्म की प्रवृत्ति होती ही नहीं, ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि गुणस्थानों की भूमिकानुसार उसके व्यवहार धर्म होता ही है। दोनों नयों की उपयोगिता को ध्यान में रखकर एक गाथा उद्धृत करके (आधाररूप में लेकर) आचार्य अमृतचंद्र भी समयसार (गाथा-१२) की टीका में कहते हैं कि—

जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहार-णिच्छए मुयह।
एगेण विणा छज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं॥

यदि तुम जैनधर्म का प्रवर्तन करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय इन दोनों नयों को मत छोड़ो; क्योंकि एक (व्यवहारनय) के बिना तो तीर्थ का नाश हो जायेगा और दूसरे (निश्चयनय) के बिना तत्त्व का नाश हो जायेगा।

समाधान यह है कि—साधक के अपने-अपने गुणस्थानानुसार व्यवहारधर्म होता है, इसमें संदेह नहीं; किंतु एक तो वह बंधपर्यायरूप होने के कारण साधक की उसमें सदैव हेयबुद्धि बनी रहती है; दूसरे, वह राग का कर्ता न होने से श्रद्धा में उसे आश्रय करने योग्य नहीं मानता। साधक श्रद्धा में तो निश्चयनय को ही आश्रय करने योग्य मानता है, परंतु वह जिस भूमिका में स्थित (विद्यमान) है, उसके अनुसार वर्तन करता हुआ उस काल में व्यवहारधर्म को जानना भी व्यवहारनय से प्रयोजनवान मानता है। इस आशय को ध्यान में रखकर श्री अमृतचंद्राचार्य ने यह वचन कहे हैं:—

व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्या-
मिह निहितपदानां हंत हस्तावलम्बः।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं
परविरहितमन्तः पश्यतां नैष किंचित्॥५॥

अर्थ—जिन्होंने साधकदशा की इस पहली पदवी में (शुद्धस्वरूप की प्राप्ति होने से पूर्व की अवस्था में) अपना पैर रखा है, उन्हें यद्यपि व्यवहारनय भले ही हस्तावलंबन हो, तथापि जो पुरुष परद्रव्यभावों से रहित चैतन्यचमत्कारमात्र परम अर्थ का अंतरंग में अवलोकन करते हैं, (उनकी श्रद्धा करते हैं, उस रूप लीन होकर चारित्रभाव को प्राप्त होते हैं), उन्हें यह व्यवहारनय किंचित् भी प्रयोजनवान नहीं हैं।

श्री समयसार आस्रव अधिकार के अंत में (श्लोक १२२ में) लिखते हैं कि—

''यहाँ यही तात्पर्य है कि शुद्धनय त्यागने योग्य नहीं है, क्योंकि उसके अत्याग से (कर्म का) बंध नहीं होता और उसके त्याग से बंध ही होता है।''

इस सबका संक्षिप्त सार निम्नानुसार है:—

(१) निश्चयनय और व्यवहारनय—ऐसे दो नय हैं अवश्य और उनके विषय भी अवश्य हैं; इसलिए दोनों का ज्ञान हेय-उपादेय बुद्धिपूर्वक करना प्रयोजनवान है।

(२) उन दोनों में निश्चयनय का विषय जो त्रिकाल निज ध्रुव चैतन्यस्वभाव वह एक ही सदाकाल आश्रय करने योग्य है।

(३) निश्चयमोक्षमार्ग स्वयं शुद्ध पर्यायरूप है, इसलिये वह स्वयं वर्तमान अंश होने से आश्रय करने योग्य नहीं है, किंतु जानने योग्य है।

(४) प्रवचनसार की ९४वीं गाथा की टीका में उसे अचलित चेतना विलासमात्र आत्मव्यवहार कहा है।

(५) पण्डितप्रवर श्री बनारसीदासजी अपनी 'परमार्थ वचनिका' में कहते हैं कि:—

×××सम्यग्ज्ञान (स्वसंवेदन) और स्वरूपाचरण की कणिका जागृत होने पर मोक्षमार्ग सच्चा। मोक्षमार्ग को साधना, सो व्यवहार और शुद्धद्रव्य अक्रियारूप, सो निश्चय है। इसप्रकार निश्चय-व्यवहार का स्वरूप सम्यग्दृष्टि जानता है, किंतु मूढ़ जीव नहीं जानता और मानता भी नहीं है।

(६) व्यवहारमोक्षमार्ग तो वास्तव में बंधमार्ग है, इसलिये सच्चा मोक्षमार्ग एक ही है—ऐसी श्रद्धा करना चाहिये।

मोक्ष साधने की कला

अलौकिक मोक्षमार्ग की प्रसिद्धि करके संतों ने मुमुक्षु जीवों पर महान उपकार किया है।

स्वाश्रित मोक्षमार्ग

श्री समयसार की इस २७२वीं गाथा में मोक्षमार्ग का अबाधित नियम बतलाकर आचार्यदेव ने स्वाश्रयरूप मोक्षमार्ग की प्रसिद्धि की है—हे जीवो! मोक्ष का मार्ग एक शुद्ध चैतन्यस्वभाव के आश्रित ही है; इसलिये मोक्षार्थी को ऐसे स्वाश्रयरूप निश्चय के द्वारा समस्त पराश्रित व्यवहार का निषेध करने योग्य है। अहा! चिदानंदस्वभाव भी अलौकिक और उसके आश्रय से होनेवाला मोक्षमार्ग भी अलौकिक.... उस अलौकिक मोक्षमार्ग को प्रसिद्ध करके संतों ने मुमुक्षु जीवों पर महान उपकार किया है।

सम्यग्दृष्टि की कला

आचार्यदेव ने इस समयसार में मोक्ष को साधने की सम्यग्दृष्टि की कला बतलाई है। सम्यग्दृष्टि को स्वाश्रयभाव में मोक्षमार्ग की धारा निर्मलरूप से चली जाती है। जितना पराश्रितभाव है, वह सब सम्यग्दृष्टि के विषय से बाहर है। पराश्रय से होनेवाला भाव तो बंध का कारण होने से बाधक है; उस बाधकभाव में जो एकरूप वर्तता है, वह जीव मोक्ष का साधक कैसे होगा? और जो मोक्ष का साधक हो, वह जीव बाधकभाव में एकरूप कैसे वर्तेगा?—इसलिये मोक्ष के साधक ज्ञानी धर्मात्मा पराश्रितभावों से मुक्त ही हैं—भिन्न ही हैं; इसलिये शुद्धस्वभाव के आश्रय से वे पराश्रित ऐसे समस्त व्यवहार को छोड़कर मुक्ति प्राप्त करते हैं।—यही मोक्ष को साधने की सम्यग्दृष्टि की कला है। ऐसी कला का नाम ही अपूर्व विद्या है, वही वीतरागी विज्ञान है।

मोक्ष को साधने का महा सिद्धांत

* एक ओर अबंध ज्ञातास्वभाव, तथा उसके आश्रय से होनेवाले सम्यग्दर्शनादि निर्मल-अबंध परिणाम; वे दोनों अभेदरूप से शुद्धनिश्चय में आये।

* दूसरी ओर समस्त परद्रव्य, तथा उनके आश्रय से होनेवाले रागादि बंध परिणाम; वे पराश्रित व्यवहार में गये।

—इसप्रकार दोनों का भेदज्ञान करके धर्मात्मा अपने स्वभाव के आश्रय से निर्मल परिणाम का ही कर्ता होता है; पराश्रित भावरूप व्यवहार को वह अपने स्वभाव से पृथक् ही रखता है। **इसप्रकार सम्यग्दृष्टि-मुमुक्षु व्यवहार का निषेध करके शुद्ध स्वभाव के आश्रय से मोक्षमार्ग को साधता है। अहा, आचार्यदेव ने मोक्ष साधने के लिये महा सिद्धांत बतलाया है कि—मोक्षार्थी को जिसप्रकार पर में एकत्वबुद्धि से होनेवाला मिथ्यात्व छोड़ने योग्य है, उसीप्रकार पर के आश्रय से होनेवाला राग भी छोड़ने योग्य ही है। मोक्ष के लिये एक शुद्ध आत्मा का आश्रय ही करने योग्य है।**

ज्ञानस्वभावी आत्मा अबंधस्वरूप है, वह अपने ज्ञान-दर्शन-आनन्द के साथ त्रिकाल तद्रूप है; ऐसे आत्मा की दृष्टि करना, सो सम्यग्दर्शन है, वह सम्यग्दर्शन भी अबंध-परिणाम है। ऐसे अबंधस्वरूप आत्मा को भूलकर, पर में एकत्वबुद्धि से होनेवाला जो मिथ्या-अध्यवसाय, वह बंध का कारण है; इसलिये मोक्षार्थी को वह छोड़ने योग्य है;—ऐसा भगवान का उपदेश है। आचार्यदेव कहते हैं कि—पर के साथ एकतारूप अध्यवसाय भगवान ने छुड़ाया है, उस उपदेश में से हम यह तात्पर्य निकालते हैं कि पर के आश्रय से होनेवाला समस्त व्यवहार ही भगवान ने छुड़ाया है; क्योंकि वह बंध का ही कारण है। मोक्ष का कारण तो अबंधस्वभाव का आश्रय करना ही है।

सम्यक्त्वी कहाँ है ? उसकी पहिचान कैसे होती है ?

सम्यक्त्वी कहाँ है ?—क्या वह परद्रव्य में है ?—नहीं; तो क्या पराश्रितभाव में है ?—नहीं; तो सम्यक्त्वी है कहाँ ?—सम्यक्त्वी तो अपने सम्यक्त्वादि भावों में ही है। परद्रव्यों में नहीं है, और न परद्रव्य के आश्रय से होनेवाले पराश्रितभावों में भी है। सम्यक्त्वी तो शुद्ध आत्मा के आश्रय से होनेवाले सम्यक्त्वादि निर्मलभावों में है। परद्रव्य एवं परभावों को तो उसने अपने स्वभाव से भिन्न जाना है, तो उनमें वह कैसे होगा ? राग अथवा पर के स्वामीरूप से कोई सम्यक्त्वी को जाने तो वास्तव में उसने सम्यक्त्वी को पहिचाना ही नहीं है।

जिसप्रकार परद्रव्य है तो स्वद्रव्य है—ऐसा नहीं है, उसीप्रकार व्यवहार है तो निश्चय है—ऐसा भी नहीं है। व्यवहार तो पर के आश्रय से वर्तता है और निश्चय का वर्तना स्वाश्रित है।—क्या जीव को परद्रव्य का आश्रय है, इसलिये उसे स्वद्रव्य का आश्रय है ?—नहीं; जिसप्रकार पर के कारण स्व नहीं है; उसीप्रकार पराश्रय के कारण स्वाश्रय नहीं है; इसलिये व्यवहार के कारण निश्चय नहीं है। सम्यक्त्वी जानता है कि—जिसप्रकार परद्रव्य से मेरा आत्मा भिन्न है, उसीप्रकार

पराश्रित ऐसे रागादि भावों से भी मेरा आत्मा भिन्न ही है।—इसप्रकार सम्यक्त्वी धर्मात्मा व्यवहार से मुक्त है—पृथक् है। स्वाश्रय से जो साधकभाव हुआ है—निर्मलभाव हुआ है, वह तो व्यवहार के पराश्रयभाव से (बाधकभाव से) भिन्न ही वर्तता है। स्वाश्रयभाव की धारा निर्मलरूप से मोक्षमार्ग पर चली जाती है और जितना पराश्रितभाव है, वह सब सम्यग्दृष्टि के विषय से बाहर है। पराश्रय से होनेवाला भाव तो बंध का कारण होने से बाधक है। उस बाधकभाव में जो एकरूप वर्तता है, वह जीव मोक्ष का साधक कैसे हो सकता है ? और जो मोक्ष का साधक हो, वह उसमें (-बाधकभाव में) एकरूप कैसे वर्तेगा ?—इसलिये मोक्ष के साधक ज्ञानी धर्मात्मा पराश्रित व्यवहार से मुक्त ही हैं, इसलिये शुद्ध-स्वभाव के आश्रय द्वारा वे व्यवहार को छोड़कर मुक्ति प्राप्त करते हैं। यही मोक्ष को साधने की सम्यक्त्वी की कला है। ऐसी कला द्वारा ही सम्यक्त्वी की सच्ची प्रतीति होती है।

देखो, यह मोक्षमार्ग की रीति! अहा, मोक्ष की साधना करते-करते संतों ने यह 'मोक्ष को साधने की कला' बतलाकर जगत के जिज्ञासुओं पर परम उपकार किया है।

मोक्ष को साधने की एक ही रीति.... एक ही नियम

मोक्ष को साधने का एक ही नियम है कि जो निश्चय का आश्रय करता है, वही मोक्ष को साधता है। इसलिये मोक्षार्थी को निश्चय का आश्रय करना चाहिये और व्यवहार का आश्रय छोड़ना चाहिये। भेदविज्ञान की ऐसी कला द्वारा सम्यग्दृष्टि स्वाश्रय से मोक्ष को साधते हैं। इस भेदज्ञान की कला के बिना जीव अन्य कितनी ही कलाएँ पढ़ा हो, तथापि वह मोक्ष को नहीं साध सकता। निश्चय और व्यवहार के विभाग (पृथक्करण) करने की कला अज्ञानी नहीं जानता। यहाँ तो निश्चय-व्यवहार का पृथक्करण करके आचार्यदेव ने मोक्ष का अटल नियम बतलाया है कि—**स्वाश्रित ऐसे निश्चय का अवलम्बन ही मोक्ष को साधने की रीति है, और पराश्रित ऐसे व्यवहार के अवलम्बन से कदापि मोक्ष की साधना नहीं हो सकती।**

अभव्य जीव कभी भी सम्यग्दर्शनादि को क्यों प्राप्त नहीं होता ?—क्योंकि वह कभी भी शुद्धात्मा का आश्रय नहीं करता और व्यवहार के आश्रय का अभिप्राय छोड़ता नहीं है। रागादिरूप व्यवहार का ही आश्रय करके उसे वह मोक्ष का (धर्म का) साधन मानता है, किंतु मोक्ष का सच्चा साधन जो स्वाश्रय है, उसे वह अंगीकार नहीं करता; इसलिये वह सम्यग्दर्शनादि को प्राप्त नहीं कर पाता। यह बात किसके लिये कही है ? क्या अकेले अभव्य जीवों के लिये ही यह बात है ?—नहीं;

यहाँ अभव्य का तो दृष्टान्त है; उस दृष्टान्त पर से आचार्यदेव जगत के जीवों को ऐसा नियम समझाते हैं कि—**जो जीव शुद्धात्मा का आश्रय करते हैं, वे ही मुक्ति प्राप्त करते हैं; और जो व्यवहार का आश्रय करते हैं, वे बँधते हैं। इसलिये जो वास्तव में मुमुक्षु हो... जिसे मोक्ष साधना हो, उसे निश्चयनय द्वारा शुद्धात्मा का आश्रय करना चाहिये और पराश्रयरूप व्यवहार का आश्रय छोड़ना चाहिये।—यही मोक्ष का पंथ है.... यही मोक्ष को साधने की रीति और कला है।**

स्वगृह में वास करना ही वास्तु-प्रवेश है

जिसप्रकार अभव्य जीव मोक्षपरिणाम के लिये अयोग्य हैं, उसीप्रकार पराश्रय से होनेवाले रागादि व्यवहारभाव भी मोक्ष परिणाम के लिये अयोग्य है—मोक्ष का साधन हो, ऐसी योग्यता उनमें नहीं है; इसलिये उनके द्वारा मोक्ष प्राप्त नहीं होता। जिसप्रकार जगत के परद्रव्य इस आत्मा के स्वभाव से भिन्न हैं, उसीप्रकार पराश्रितभाव भी इस आत्मा के स्वभाव से भिन्न ही हैं; आत्मा के स्वभाव में उनका प्रवेश नहीं है। आत्मा का ज्ञानस्वभाव तो अबंध है और रागादि पराश्रितभाव तो बंधरूप हैं, उनमें एकत्व नहीं है, किंतु भिन्नता है। मोक्षपंथ अकेले चिदानंदस्वभाव के आश्रय से ही वर्तता है।—ऐसे चिदानंदस्वभाव को जानकर उसके आश्रय में वास करना ही स्वगृह में सच्चा प्रवेश है।

संतों का उपकार

अहो, चिदानंदस्वभाव अलौकिक.... और उसके आश्रय से होनेवाला मोक्ष का मार्ग भी अलौकिक.... वह अलौकिक मोक्षमार्ग प्रसिद्ध करके—प्रकाशित करके संतों ने मुमुक्षुओं पर अलौकिक उपकार किया है। *(—कार्तिक कृष्णा ११ के प्रवचन से)*

दुःखी और सुखी

अंतर में चैतन्य के अतीन्द्रिय आनन्द को चूककर बाह्य इन्द्रिय-विषयों में मूर्च्छित बहिरात्मा-निरंतर दुःखी हैं,

—और—

मेरा सुख मेरे आत्मा में ही है, बाह्य इन्द्रिय विषयों में मेरा सुख नहीं है;—ऐसी अंतर् प्रतीति करके धर्मात्मा अंतर्मुख होकर आत्मा के अतीन्द्रिय सुख का स्वाद लेते हैं..... वे निरंतर सुखी हैं।

अटूट भंडार

अचिंत्य आत्मवैभव दिखाकर वीतरागी संतों ने महान उपकार किया है।

आत्मा का ध्रुवस्वभाव ज्ञान और आनन्द का ऐसा अटूट भंडार है कि उसमें से ज्ञान-आनन्द निकलते ही रहते हैं। चाहे जितने ज्ञान-आनन्द उसमें से निकाल लो, तथापि वह कम नहीं होगा, उसमें न्यूनता नहीं आयेगी। धर्मी को ऐसी शंका कभी नहीं होती कि आत्मा के ध्रुवस्वभाव में से आनन्द प्रगट कर-करके करोड़ों-अरबों-असंख्य वर्षों तक उसका उपभोग किया, इसलिये अब आत्मा में से आनन्द कम तो नहीं हो जायेगा! धर्मी तो अपने ध्रुवस्वभाव का अवलम्बन करके आनन्द के उपभोग में लीन हैं; स्वभाव की दृष्टि में वे ऐसे निःशंक हैं कि सादि-अनंत काल तक सिद्धदशा में प्रति समय परिपूर्ण आनन्द भोगते ही रहेंगे, तथापि हमारे स्वभाव का आनन्द कम नहीं होगा—ऐसी हमारे अक्षय ध्रुवस्वभाव की अचिंत्य शक्ति है। अहो! हमारे द्रव्य का कोई ऐसा अचिंत्य सामर्थ्य है कि प्रतिसमय परिपूर्ण ज्ञान-आनन्द देता ही रहे, तथापि अनंत काल में भी हमारा सामर्थ्य किंचित् कम न हो।

देखो, यह आनन्द का अटूट भंडार!

ऐसा अटूट भंडार आत्मा में भरा है कि उसमें से जब निर्मलता निकालना हो, तब निकल सकती है, और जितनी निकालना हो, उतनी निकल सकती है। अनादि काल से मलिनता की; इसलिये अब चैतन्यखान में निर्मलता देने की शक्ति नष्ट हो गई है—ऐसा नहीं है; निर्मलता प्रदान करने की आत्मा की शक्ति तो ज्यों की त्यों परिपूर्ण वर्त रही है। जब अंतर्मुख होकर उसे पकड़े, तब उसमें से निर्मलता प्रगट होती है। अपने में से निर्मलता दे-देकर द्रव्य कभी थक जाये, अथवा निर्मल पर्याय देना बंद कर दे, अथवा निर्मलता देने की उसको शक्ति का ह्रास हो जाये—ऐसा कभी नहीं होता; द्रव्य की शक्ति रंचमात्र कम नहीं होती। एक पर्याय बदलकर दूसरी, दूसरी बदलकर तीसरी, तीसरी बदलकर चौथी और चौथी बदलकर पाँचवीं.... इसप्रकार अनंत-अनंत काल तक ज्ञान-आनन्द से परिपूर्ण पर्यायें ध्रुवस्वभाव में से लेते ही रहो-लेते ही रहो, तथापि ध्रुवशक्ति का भंडार किंचित् कम नहीं होता। अहो! ऐसी ध्रुवशक्ति के भंडार अपने आत्मस्वभाव को जो प्रतीति में ले, वह साधक हो जाये और अपने ध्रुव भंडार में से ज्ञान-आनन्दमय निर्मल पर्यायों का प्रवाह अटूट रूप से चलता ही रहे। अहा, अपना अटूट भंडार जिसके हाथ में आ गया, उस जीव को बाह्य

में से—राग में से या पर में से—किंचित् भी लाभ लेने की बुद्धि स्वप्न में भी क्यों रहेगी ? वह तो अपने अटूट आत्मभंडार में से ज्ञान-आनन्द निकाल-निकालकर उनका उपभोग करता ही रहेगा।

वीतरागी संतों ने ऐसे अचिंत्य आत्मवैभव का भंडार दिखाकर जगत के जीवों पर महान उपकार किया है।

जो मुमुक्षु है, वह सत्संग में रहकर आत्मसाधना करता है और सत्संग के समय अन्य धर्मात्माओं को धर्मसाधन करते देखकर स्वयं को भी धर्मसाधन का उल्लास आता है और उल्लास परिणाम द्वारा वह अपनी आत्मसाधना करता है। श्रीमद्राजचंद्रजी ने निम्नोक्त शब्दों में सत्संग की सच्ची महिमा प्रगट की है:—

''मुमुक्षुजन सत्संग में हो तो निरंतर उल्लासित परिणाम में रहकर अल्पकाल में आत्मसाधन कर सकता है—यह कहानी यथार्थ है.... ।''

वीतरागी वस्तुस्वभाव का अद्भुत वर्णन

इस ज्ञेय अधिकार में आचार्यदेव ने वीतरागी वस्तुस्वभाव का अद्भुत वर्णन किया है। द्रव्य स्वभाव से ही सत् है। सत्तागुण और द्रव्य, यह दोनों कहीं भिन्न-भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं; सत्ता के अंश अलग और द्रव्य के अंश अलग—ऐसा नहीं है; सत्ता के प्रदेश अलग और द्रव्य के प्रदेश अलग—ऐसा प्रदेशभेद भी नहीं है। द्रव्य स्वयं ही सत्रूप है। एक द्रव्य और दूसरी सत्ता—इसप्रकार दो वस्तुएँ मिलकर द्रव्य सत्रूप है—ऐसा नहीं है; अर्थात् उनमें युतसिद्धपना नहीं है, भिन्न वस्तुपना नहीं है।

प्रश्न—द्रव्य में सत्ता है, गुणी में गुण है—ऐसा भेद तो किया जाता है न ?—उसके उत्तर में

आचार्यदेव कहते हैं कि—जो गुणी है, वह गुण नहीं है—ऐसा शास्त्र का वचन होने से द्रव्य और गुण में अतद्भावरूप भेद भले ही हो, किंतु उससे कहीं वे दोनों भिन्न-भिन्न वस्तुएँ नहीं हो जाती, प्रदेशभेद नहीं होता। यह एक बात है।

और दूसरी बात यह है कि—द्रव्य, वह गुण नहीं है—ऐसा तो अतद्भावरूप भेद है, वह भी सर्वथा भेद नहीं है; परंतु जब पर्यायदृष्टि (भेददृष्टि) से देखा जाये, तभी वह भेद उन्मग्न होता है, अर्थात् लक्ष में आता है; परंतु जब 'सत्, वह द्रव्य ही है'—ऐसा द्रव्यार्थिकदृष्टि से देखा जाये, तब गुण-गुणीभेद अस्त हो जाता है—निमग्न हो जाता है। अभेददृष्टि में पूरा द्रव्य ही एक दिखाई देता है; उसमें भेद दृष्टिगोचर नहीं होते। और पर्यायदृष्टि से जब भेद दिखाई देते हैं, तब भी वे 'अंशी के अंशरूप ही' दिखाई देते हैं; अंशी से पृथक्रूप दिखाई नहीं देते। भेददृष्टि में भी कहीं सत्ता उस द्रव्य से सर्वथा भिन्न दिखाई नहीं देती, वह द्रव्य के ही गुणरूप दिखाई देती है। (यहाँ जिसप्रकार सत्ता और द्रव्य की बात कही, उसीप्रकार ज्ञान और आत्मा का भी समझना।)

जिसप्रकार ज्ञान भिन्न और आत्मा भिन्न, ऐसा नहीं है; आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप है; ज्ञान वह आत्मा ही है; आत्मा से कोई भिन्न वस्तु नहीं है; उसीप्रकार सत्ता भिन्न और द्रव्य भिन्न—ऐसा नहीं है; द्रव्य स्वयं ही सत्स्वरूप है। सत्ता स्वयं द्रव्य ही है, द्रव्य से भिन्न कोई सत्ता नहीं है। इसलिये द्रव्य को न देखकर मात्र सत्ता को देखने जाये अथवा तो गुणी को न देखकर मात्र गुण को ही देखने जाये, तो उसे वास्तविक सत्ता या द्रव्य अथवा गुण या गुणी-कुछ भी दिखाई नहीं देगा। आत्मा को न देखकर मात्र ज्ञान को देखने जाये तो उसे ज्ञान दिखाई नहीं देगा; क्योंकि द्रव्य से बिल्कुल भिन्न सत्ता या आत्मा से बिल्कुल भिन्न ज्ञान होता ही नहीं। गुण सदैव गुणी (द्रव्य) के आश्रय से ही होता है; इसलिये द्रव्य का आश्रय करके ही गुण का वास्तविक अवलोकन होता है।

देखो, यह वीतरागी वस्तु स्वभाव का वर्णन है। जगत के समस्त द्रव्यों का ऐसा स्वरूप है; उसे ज्ञेयरूप से जानने की ज्ञान की शक्ति है। ऐसा वस्तुस्वरूप जानने से ज्ञान में स्व-पर के भेदज्ञानपूर्वक 'प्रशम' (वीतरागभाव) होता है, वह ज्ञान का फल है, तथा वही मोक्ष का मूल है।

(—प्रवचनसार गाथा ९८ के प्रवचन से)

श्री कुन्दकुन्ददेवाचार्य स्तुति

जासके मुखारविंद तैं प्रकाशभास वृंद,
स्याद्वाद जैनबैन इन्दु कुन्दकुन्द से।
तासके अभ्यासतैं विकास भेदज्ञान होत,
मूढ सो लखै नहिं कुबुद्धि कुन्दकुन्द से।
देत है अशीस शीस नाय इन्द चंद जाहि,
मोह-मार-खंड मारतंड कुन्दकुन्द से।
विशुद्धि-बुद्धि-वृद्धिदा प्रसिद्ध-ऋद्धि-सिद्धिदा,
हुए न, हैं न, होहिंगे मुनिंद कुन्दकुन्द से।

(कविवर वृन्दावन)

भावार्थ—चंद्रसमान कुंदकुन्दाचार्य के मुख कमल से तेजपुंज और स्याद्वादमय जिनेश्वर की वाणी का प्रकाश हुआ, जिसके अभ्यास से भेदज्ञान का विकास होता है। मूढ़ जीव उस वाणी के आशय को जानते नहीं, ऐसे कुबुद्धि हैं। चंद्रलोक आदि के स्वामी जिन्हें इन्द्र कहा जाता है, वे आपको (आचार्य को) मस्तक नमाकर आशीष देते हैं।

कैसे हैं श्री कुंदकुंदाचार्य! कि मोह और कामवासना (मदन) रूपी अंधकार का नाश करने में सूर्य हैं। विशुद्धि और बुद्धि की वृद्धि तथा प्रसिद्धि ऋद्धि-सिद्धि के दाता ऐसे कुंदकुंदाचार्य समान आचार्य उनके बाद न हुए, न हैं, और न इस अवसर्पिणी काल में होंगे।

आत्मा में ही चारों पुरुषार्थ हैं

धरम कौ साधन जु वस्तु कौ सुभाउ साधै,
अरथ कौ साधन विलेछ* दर्व षट् में,
यहै काम-साधन जु संग्रहै निरासपद××
सहज सरूप मोख (मोक्ष) शुद्धता प्रगट मैं
अंतर की दृष्टि सौं निरंतर विलोकै बुध,
धरम अरथ काम मोख निज घट मैं;
साधन आराधन की सौंज रहे जाके संग,
भूल्यो फिरै मूरख मिथ्यात की अलट मैं।१५।

भावार्थ—विपरीतमान्यतारहित वस्तुस्वभाव का यथार्थ जानना, उसका नाम **धर्म** पुरुषार्थ की सिद्धि करना है।

सर्वज्ञ वीतराग कथित छहों द्रव्य को और नौ पदार्थ को भिन्न-भिन्न यथावत् जानना (कोई द्रव्य किसी का कर्ता-भोक्ता-प्रेरक या स्वामी भी नहीं है), ऐसा भेदविज्ञान द्वारा (निःसंदेह जानना) वह **अर्थ** पुरुषार्थ की साधना है।

निर्मलरूप से तत्त्वार्थश्रद्धान अर्थात् सुदृष्टि और स्वरूपाचरणरूप चारित्र द्वारा मोह-क्षोभ रहित ऐसी निस्पृहता प्रगट करना, वह **काम** पुरुषार्थ की सिद्धि और साधना है, और

आत्मस्वरूप की परिपूर्ण शुद्धता प्रगट करना, वह मोक्ष पुरुषार्थ की सिद्धिरूप कार्य है।

इसप्रकार धर्म, अर्थ, काम आर **मोक्ष** ये चारों पुरुषार्थ को सम्यग्दृष्टि जीव अपने में ही सदा देखते हैं, और मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्व के भ्रम में गिरकर चारों पुरुषार्थों की साधक और बाधक सामग्री अपनी भीतर (आत्मा में) ही होने पर भी उसे देखता नहीं है, इसलिये वह बाह्य (बाहर) ढूँढ़ता फिरे है।

---

*[*विलेछ-भिन्न भिन्न जाने, ××निस्पृहता; निर्मोहता, सौंज-सामग्री, अलट-भ्रम]*

चार पुरुषार्थ

कविवर पंडित बनारसीदासजी ने समयसार नाटक में कहा है कि—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये पुरुषार्थ के चार अंग हैं, उसे दुर्बुद्धि जीव अपना मन चाहै वैसे ग्रहण करते हैं, और सम्यग्दृष्टि-सम्यग्ज्ञानी जीव संपूर्णतया वास्तविक रूप से ही अंगीकार करते हैं।

कुल को आचार ताहि मूरख धरम कहै,
पंडित धरम कहै वस्तु के सुभाउ कौ;
खे कौ खजानौं ताहि अज्ञानी अरथ कहै,
ग्यानी कहे अरथ दरब-दरसाउ कौं;
दंपति को भोग ताहि दुरबुद्धि काम कहै,
सुधी काम कहै अभिलाष चित चाउ कौं;
इन्द्र लोक थानकौं अजान लोग कहैं मोक्ष,
सुधी मोक्ष कहै एक बंध के अभाउ कौं॥१४॥

(समयसार नाटक बंध द्वार)

भावार्थ—अज्ञानी लोग कुल पद्धति-स्नान चौका (रसोई घर की भोजन विधि) को धर्म कहते हैं और पंडित-ज्ञानी लोग वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते हैं।

अज्ञानी मिट्टी-धूलि के ढेर-सोना-चाँदी आदि को द्रव्य कहते हैं, किंतु ज्ञानी तो तत्त्व अवलोकन द्वारा (सर्वज्ञ वीतराग कथति) जीवादि छह द्रव्य को यथावत् जानकर उपादेयरूप निज शुद्धात्म तत्त्व को ही अर्थ (स्वद्रव्य) कहते हैं, [द्रव्य को अर्थ भी कहते हैं।]

अज्ञानी लोग पुरुष-स्त्री के विषय भोग को काम कहते हैं, ज्ञानी तो भेदविज्ञानरूपी प्रज्ञा द्वारा निज शुद्धात्मा में एकत्व का पुरुषार्थ करना; स्वसन्मुख ज्ञातापन-चैतन्यस्वरूप में निर्मल श्रद्धा-ज्ञान-लीनता द्वारा एकाग्र होना, उसी को सच्चा काम (अर्थात् पुरुषार्थ) कहते हैं।

अज्ञानी, स्वर्गलोक को बैकुंठ अथवा मोक्ष कहते हैं किंतु ज्ञानी लोग तो द्रव्यकर्म-भावकर्म और नोकर्म (शरीर) रूपी कर्म बंधनरहित पूर्ण शुद्धदशा आत्मा में प्रगट हो, उसे मोक्ष कहते हैं।

आत्मा में ही चारों पुरुषार्थ हैं।

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

पंचास्तिकाय	४ ॥)	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२ ॥)
मूल में भूल	।।।)	मोक्षशास्त्र बड़ी टीका सजिल्द	५)
श्री मुक्तिमार्ग	॥=)	सम्यग्दर्शन (दूसरी आवृत्ति)	१ ॥=
श्री अनुभवप्रकाश	॥)	द्वादशानुप्रेक्षा (स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा)	२)
श्री पंचमेरु आदि पूजासंग्रह	।।।)	जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह कपड़े की जिल्द	१ ।=)
समयसार प्रवचन भाग २	५ ।)		
समयसार प्रवचन भाग ३	४ ॥)	भेदविज्ञानसार	२)
प्रवचनसार	५)	अध्यात्मपाठसंग्रह	५)
अष्टपाहुड़	३)	समाधितन्त्र	२ ।=
चिद्विलास	१=)	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)
मोक्षमार्ग–प्रकाशक की किरणें प्र०	१ ।=)	स्तोत्रत्रयी	॥)
द्वितीय भाग	२)	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	=)
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	॥–)	'आत्मधर्म मासिक' लवाजम–	३)
द्वितीय भाग	॥–)	आत्मधर्म फाइलें १–३–५–६–७–८–१०–११–१२–१३ वर्ष	३ ।।।)
तृतीय भाग	॥–)		
जैन बालपोथी	।)	शासन प्रभाव	=)

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।